25 लाख से भी अधिक मुकदमे लंबित हैं उत्तर प्रदेश में जिनमें से 10 लाख मुकदमे तो केवल उच्च न्यायालय के दोनों बेंच (इलाहाबाद और लखनऊ) में ही लंबित हैं।

आजकल

न्यायाधीशों की कमी से जूझता देश

कैलाश बिश्नोई
अध्येता, दिल्ली विश्वविद्यालय

आज देश भर में न्यायपालिका पर लंबित मामलों को निबटाने का दबाव है जो न्यायाधीशों की कमी के कारण दिनों-दिन मुश्किल होता जा रहा है। मुख्य न्यायाधीश ने इस बारे में प्रधानमंत्री को पत्र भी लिखा है। एक पूर्व मुख्य न्यायाधीश पहले भी इस समस्या का उल्लेख कर चुके हैं। ऐसे में इस समस्या की ओर सरकार को तत्काल ध्यान देना चाहिए। इसके समाधान के तौर पर अखिल भारतीय न्यायिक सेवा की स्थापना के बारे में भी विचार करना चाहिए

उच्चतम न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश रंजन गोगोई ने प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी को पत्र लिख कर सर्वोच्च न्यायालय में न्यायाधीशों की संख्या बढ़ाने, उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों की सेवानिवृत्ति उम्र बढ़ा कर 65 साल करने के साथ ही रिक्त पदों को शीघ्र भरने का अनुरोध भी किया है। उन्होंने चिंता जाहिर की है कि न्यायाधीशों के अभाव में सर्वोच्च न्यायालय में लंबित कानून से संबंधित कई मामलों में संविधान पीठ गठित करना बेहद मुश्किल हो रहा है।

सरकारी आंकड़ों के अनुसार सर्वोच्च न्यायालय में 58,700 जबकि उच्च न्यायालयों में करीब 44 लाख और जिला अदालतों में लगभग पौने तीन करोड़ मुकदमे लंबित हैं। यानी कुल लंबित मामलों में से 80 प्रतिशत से अधिक मामले जिला और अधीनस्थ न्यायालयों में हैं। वर्ष 2011 की जनगणना के आधार पर प्रति 10 लाख लोगों पर देश में लगभग 17.72 न्यायाधीश हैं। उल्लेखनीय है कि विधि आयोग ने अपनी एक रिपोर्ट में सिफारिश की थी कि प्रति 10 लाख जनसंख्या पर न्यायाधीशों की संख्या 50 होनी चाहिए। इसके लिए स्वीकृत पदों की संख्या बढ़ाकर तीन गुना करनी होगी।

केंद्र सरकार और सर्वोच्च न्यायालय के बीच न्यायाधीशों की नियुक्ति को लेकर लंबे समय से टकराव चल रहा है। टकराव का मुख्य कारण कॉलेजियम सिस्टम है जिसके तहत 1993 में 'सुप्रीम कोर्ट एडवोकेट मामले' में न्यायिक नियुक्तियों में कॉलेजियम की सिफारिशों को मानना सरकार के लिए बाध्य बना दिया गया। सर्वोच्च न्यायालय के कॉलेजियम में मुख्य न्यायाधीश समेत सर्वोच्च न्यायालय के पांच जज होते हैं। वहीं हाई कोर्ट का कॉलेजियम तीन सदस्यीय होता है। कॉलेजियम को सुप्रीम कोर्ट और हाई कोर्ट के मुख्य न्यायाधीश और न्यायाधीशों की नियुक्तियां और तबादलों का अधिकार होता है। गौरतलब है कि पूर्व मुख्य न्यायाधीश जेएस वर्मा के नेतृत्व वाली सुप्रीम कोर्ट की नौ सदस्यों वाली संवैधानिक खंडपीठ ने छह अक्टूबर 1993 को तय किया था कि सुप्रीम कोर्ट के न्यायाधीश का रुतबा कार्यपालिका से ऊपर है, इसलिए जजों के स्थानांतरण और नियुक्तियां कॉलेजियम द्वारा की जाएंगी। बाद में कॉलेजियम व्यवस्था की निष्पक्षता व पारदर्शिता पर सवाल उठने लगे तो सरकार ने संविधान के अनुच्छेद 124 व 217 में आवश्यक संशोधन कर राष्ट्रीय न्यायिक नियुक्ति विधेयक पारित किया, परंतु न्यायपालिका ने उसे अपने कार्यों में हस्तक्षेप मानते हुए असंवैधानिक करार दिया।

निचली अदालतों में न्यायाधीशों के चयन को लेकर अखिल भारतीय न्यायिक सेवा के गठन का मुद्दा भी यदा-कदा चर्चा में रहता है। कुछ माह पहले नीति आयोग ने सुझाव दिया था कि निचली अदालतों में न्यायाधीशों के चयन के लिए भारतीय प्रशासनिक सेवा की तर्ज पर अखिल भारतीय न्यायिक सेवा का गठन किया जाए। नीति आयोग का कहना था कि इस कदम से कानून की बेहतर जानकारी रखने वाले प्रतिभाशाली युवा आकर्षित होंगे। हालांकि अखिल भारतीय न्यायिक सेवा के गठन का विचार नया नहीं है। सबसे पहले यह विचार 1960 के दशक में पेश किया गया था। संविधान के अनुच्छेद-312 में यह प्रावधान है कि संसद विशेष बहुमत से प्रस्ताव पारित कर एक नई अखिल भारतीय सेवा की स्थापना कर सकती है। उपरोक्त अनुच्छेद के तहत इस सेवा की स्थापना करने के लिए 1977 में संविधान संशोधन किया गया था। इसके लिए आवश्यक विधियों को अधिनियमित कर संसद को समर्थ बनाने के लिए राज्यसभा द्वारा दो-तिहाई बहुमत से पारित एक संकल्प अपेक्षित है। यूपीए सरकार ने भी 2012 में कोशिश की थी। उसने विधेयक का मसौदा भी तैयार कर लिया, परंतु इस प्रस्ताव पर ठोस कार्रवाई नहीं हुई है। इसकी मुख्य वजह कुछ राज्यों और कुछ उच्च न्यायालयों द्वारा किया गया विरोध है। इस कारण ही केंद्र सरकार ने अब तक इस संबंध में कोई उचित निर्णय नहीं लिया है।

> न्यायालय व सरकार दोनों को यह जेहन में रखना चाहिए कि देरी से मिला न्याय भी एक प्रकार का अन्याय है

केंद्र की एनडीए सरकार ने पिछली बार जब अखिल भारतीय न्यायिक सेवा परीक्षा कराने का प्रस्ताव रखा था, तब नौ उच्च न्यायालयों ने इसका विरोध किया था, आठ अन्य ने प्रस्तावित ढांचे में बदलाव की मांग की थी, जबकि केवल दो ने ही इस विचार का समर्थन किया था। इस सेवा के सृजन के विरोध का प्रमुख कारण भाषा से संबंधित है। एक तर्क यह दिया जा रहा है कि अखिल भारतीय न्यायिक सेवा की स्थापना के बाद अधीनस्थ न्यायालयों के न्यायाधीशों का भी अन्य राज्यों में स्थानांतरण किया जा सकेगा, जिससे उस न्यायाधीश द्वारा दूसरे राज्य में (अगर उस राज्य की स्थानीय भाषा अलग है) कार्य करना मुश्किल हो जाएगा जो न्याय की गुणवत्ता को प्रभावित करेगा। यह आशंका भी जताई जा रही है कि अखिल भारतीय न्यायिक सेवा की स्थापना से राज्य न्यायिक सेवा अधिकारियों की प्रगति में बाधा पहुंचेगी।

यह विचार करना जरूरी है कि अखिल भारतीय न्यायिक सेवा के गठन से कौन से लाभ होंगे? सबसे पहला लाभ यह है कि न्यायाधीशों की नियुक्ति में अखिल भारतीय प्रशासनिक सेवा के समान निष्पक्ष एजेंसी की भूमिका होगी। इससे न्यायिक सेवा में प्रतिभावान विधि स्नातक शामिल किए जा सकेंगे, जो सामान्यतः न्यायिक सेवा में भर्ती न होकर सरकारी और निजी क्षेत्र में अन्य ऐसे पदों की तलाश में रहते हैं जहां उन्हें ज्यादा आर्थिक लाभ मिल सके। यदि केंद्रीय लोक सेवा आयोग से भर्ती करवाई जाएगी तो केंद्रीय सेवाओं के समान वेतन न्यायिक सेवा में भी उपलब्ध होंगे, इसलिए अनेक प्रतिभाशाली युवा न्यायिक सेवा में नियुक्ति पाने के लिए प्रतियोगिता में शामिल होंगे।

लचर न्याय व्यवस्था के चलते न्याय मिलने में लोगों को वर्षों लग जाते हैं। न्यायालयों के चक्कर लगाते-लगाते लोग परेशान हो जाते हैं। ऐसे में त्वरित व प्रभावी न्याय सुनिश्चित करने के लिए न्याय प्रणाली में बहुस्तरीय सुधार समय की मांग हैं। आम आदमी के न्याय पाने की भरोसे की डोर न्यायपालिका है, उनके भरोसे की डोर न टूटे, उसके लिए त्वरित न्याय उपलब्ध करवाने के लिए उचित कदम उठाने ही होंगे।

अदालतों में बढ़ते लंबित मामले

अभिजीत मोहन

देश भर के न्यायालयों में न्यायाधीशों की कमी की वजह से न केवल लोगों को सस्ता और शीघ्र न्याय मिलने में कठिनाई हो रही है, बल्कि कानून से जुड़े अहम मसलों पर भी जरूरी संख्या में संविधान पीठ गठित नहीं हो पा रही है। गौर करें तो यह पहली बार नहीं है जब किसी न्यायाधीश द्वारा अदालतों में मुकदमों का बढ़ता बोझ और न्यायाधीशों की कमी की चिंता जाहिर की गई हो। दो वर्ष पहले तत्कालीन मुख्य न्यायाधीश तीरथ सिंह ठाकुर ने भी लखनऊ में उच्च न्यायालय के नए भवन के उद्घाटन के दौरान कुछ इसी तरह की चिंता जाहिर की थी। बीते वर्षों इलाहाबाद उच्च न्यायालय के 150 वर्ष पूरे होने के अवसर पर आयोजित समारोह के दौरान तत्कालीन राष्ट्रपति प्रणब मुखर्जी ने भी न्यायिक प्रणाली में सुधार पर जोर देते हुए कहा था कि लोगों को शीघ्र न्याय मिले इस दिशा में ठोस पहल होनी चाहिए। लेकिन अदालतों में मुकदमों के बढ़ते बोझ के लिए एकमात्र न्यायाधीशों की कमी ही जिम्मेदार नहीं है। लंबित प्रकरणों की संख्या में सतत वृद्धि, प्रकरण के निस्तारण में लगने वाला अंतहीन समय और ढांचागत सुविधाओं का अभाव भी इसके लिए मुख्य रूप से जिम्मेदार हैं। गत वर्ष पहले मुख्य न्यायाधीश जस्टिस आरएम लोढ़ा ने सुझाव दिया था कि अदालतों का वर्ष में 365 दिन खुलना समय की जरूरत है। मुकदमों का बोझ घटाने के लिए इससे बेहतर तरीका और कोई नहीं हो सकता। अगर मौजूदा मुख्य न्यायाधीश के सुझाव पर अमल हो तो निःसंदेह मुकदमों का बोझ घटेगा और आमजन को शीघ्र एवं सस्ता न्याय सुलभ हो सकेगा। अच्छी बात यह है कि केंद्र की मौजूदा सरकार लोगों को त्वरित न्याय दिलाने के लिए अदालतों में रिक्त पड़े पदों को जल्द भरने की प्रतिबद्धता के साथ और भी आवश्यक कदम उठा रही है। वर्ष 1998 में सर्वोच्च न्यायालय में न्यायाधीशों के स्वीकृत पद को 18 से बढ़ाकर 26 किया गया था और फिर 2009 में इसे बढ़ाकर 31 किया गया, लेकिन मुकदमों की वर्तमान संख्या को देखते हुए यह संख्या बहुत कम है। इससे निपटने के लिए जस्टिस गोगोई ने उचित ही सुझाव दिया है कि न्यायाधीशों की संख्या बढ़ाई जाए।

गौर करें तो सबसे ज्यादा लंबित मुकदमों की संख्या निचली अदालतों में हैं। निचली अदालतों में न्यायाधीशों के सैकड़ों पद रिक्त हैं। स्वाभाविक है कि जब न्यायाधीशों के पद रिक्त होंगे तो मुकदमों का बोझ बढ़ेगा ही। कुछ वर्ष पहले भारत के पूर्व प्रधान न्यायाधीश अल्तमश कबीर ने सभी उच्च न्यायालयों के मुख्य न्यायाधीशों को ताकीद किया था कि वह अपनी राज्य सरकारों से अधीनस्थ अदालतों में जजों की संख्या दोगुनी करने का निर्देश दें। लेकिन विडंबना है कि इस दिशा में राज्य सरकारों ने उचित कदम नहीं उठाया। अगर देश के सबसे बड़े राज्य उत्तर प्रदेश की ही बात करें तो यहां 25 लाख से अधिक मुकदमे लंबित हैं जिनमें 10 लाख मुकदमे तो सिर्फ उच्च न्यायालय के दोनों बेंच (इलाहाबाद और लखनऊ) में लंबित हैं। अदालतों में खाली पड़े पदों और राज्यों में नए अदालतों के गठन के अलावा शीघ्र न्याय के लिए त्वरित न्यायालय के गठन की भी आवश्यकता है। लंबित मामलों को निपटाने के लिए अन्य तरीकों पर भी विचार करने की जरूरत है। मसलन अमेरिका के पेंसिलवेनिया में देर रात्रि तक न्यायालय चलते हैं। हालांकि भारत के लिए यह विचार कोई नया नहीं है। वर्ष 2006 में गुजरात में इस तरह का प्रयोग हो चुका है। अहमदाबाद में 17 सांध्यकालीन अदालतों में महज 45 दिनों में ही 16,000 से अधिक मामलों की सुनवाई हुई। अगर पूरे देश में यह व्यवस्था लागू हो तो बेहतर परिणाम आ सकते हैं। लंबित मामलों को निपटाने के लिए दिसंबर 2007 में पंचायत स्तर पर मोबाइल अदालतों की भी स्थापना हुई। पहली मोबाइल अदालत हरियाणा के मेवात जिले में गठित हुई। इस पहल को व्यापक आयाम दिए जाने की जरूरत है।

लोगों को त्वरित न्याय दिलाने के लिए न्यायतंत्र में व्याप्त भ्रष्टाचार को भी दूर करने की जरूरत है। आज न्यायिक तंत्र भी भ्रष्टाचार से अछूता नहीं है। समय-समय पर न्यायाधीशों पर भ्रष्टाचार के संगीन आरोप लगते रहे हैं। यदि यह सच है तो शर्मनाक और चिंतनीय है। उचित होगा कि न्यायपालिका, केंद्र एवं राज्य सरकारें बिना देर किए न्यायाधीशों की संख्या में आवश्यक वृद्धि करें और साथ ही न्यायालय पर लोगों का भरोसा बना रहे इस दिशा में ठोस कदम उठाएं।

खरी-खरी

मोबाइल और मनुष्य

विनय मोघे

दृश्य एक : ऑफिस में एक जरूरी मीटिंग के लिए एकत्रित सभी कर्मचारियों से कहा गया कि वे अपने मोबाइल स्विच ऑफ रखें, ताकि मीटिंग में डिस्टर्ब न हो। मीटिंग शुरू होने के एक घंटे के बाद ही एक कर्मचारी को चक्कर आने लगे। आंखों के सामने अंधेरा छाने लगा। उसे तुरंत दूसरे कक्ष में ले जाया गया, पानी पिलाया गया। किसी कर्मचारी ने सलाह दी कि उसके घर पर खबर कर देनी चाहिए। खबर करने के लिए जैसे ही उसका मोबाइल ऑन किया गया, धीरे-धीरे उसकी बेहोशी दूर हो गई। वह पूर्ववत होने लगा। फिर उसने जैसे ही वाट्सएप, फेसबुक देखे, एकदम तरोताजा हो गया, जैसे कुछ हुआ ही न हो।

दृश्य दो : परीक्षा हॉल में मोबाइल ले जाना मना था, इसलिए उस दिन वह मोबाइल घर पर ही छोड़ गई। परीक्षा शुरू होने के कुछ ही मिनटों में वह बेहोश होकर अपनी बेंच से नीचे गिर पड़ी। किसी तरह उसे घर पहुंचाया गया। घर पहुंचकर उसने मोबाइल निकाला। सबसे पहले सेल्फी ली और फिर इंस्टाग्राम से लेकर फेसबुक, वाट्सएप सब जगह उसे भेजा। कुछ ही देर बाद वह ठीक हो गई। उसे घर छोड़ने आए लोग कभी उसे, कभी उसके मोबाइल को देखते।

दृश्य तीन : अपनी ननद की सगाई वाले दिन वह बहुत व्यस्त रही। उसका मोबाइल भी दिन भर बच्चों के पास ही रहा। कामकाज में उसे समय भी नहीं मिला। पर रात को सोने से पहले उसे बेचैनी होनी लगी। एसी की ठंडक के बावजूद वह पसीने से तरबतर हो गई। उसकी घबराहट बढ़ने लगी। ऐसा लगा जैसे बीपी लो हो रहा है। उसने तुरंत कार्टून देख रहे बच्चे से मोबाइल छीना और यूट्यूब खोलकर 'पुदीने के फौड़े कैसे बनाएं?' सर्च किया। वह वीडियो देखने लगी और देखते-देखते उसकी बेचैनी कम हो गई। वह चैतन्य हो गई।

दृश्य चार : रिटायरमेंट के बाद मोबाइल पर ही उनका समय बीतता था। एक दिन अचानक बिजली कट गई। कटौती से गुस्सा होकर राज्य सरकार को कोसने के लिए उन्होंने मोबाइल उठाया, किंतु वह डिस्चार्ज था। यह देख वे अचानक होश खो बैठे। सीन में बेटे-बहू को दौड़कर आना था, मगर वे भी दूसरे कमरे में मोबाइल पर लगे हुए थे। वे थोड़े होश में तो थे, पर बोल नहीं पा रहे थे। कुछ देर बाद कामवाली बाई आई, तब पता चला कि बाबूजी तो औंधे पड़े हैं। उसने एंबुलेंस बुलवाई, मगर तभी बिजली आ गई और बाबूजी नार्मल हो गए। उनका मोबाइल अब चार्ज हो रहा है।

ट्वीट-ट्वीट

तिरंगे का भी एक रंग भगवा है, जो रंग पहले भारतीय क्रिकेट टीम पहन चुकी है, जिस रंग का कुछ भाग अभी की ड्रेस में भी है उस रंग से कुछ क्रांतिकारी लोगों को दिक्कत क्यों है? हर बात को राजनीति से जोड़ना गलत है। बीसीसीआइ में सभी प्रमुख दलों के नुमाइंदे हैं। प्रदीप भंडारी@pradip103

यह प्रश्न मुझसे क्यों कि नीतीश जी, जो महिला सशक्तीकरण के लिए क्या नहीं करते जैसे नौकरी में आरक्षण, शराबबंदी इत्यादि, वह तीन तलाक का विरोध क्यों कर रहे हैं? क्या मुस्लिम महिलाएं दूसरे ग्रह से आई हैं? यह जवाब सिर्फ जदयू देगा। डॉ. अजय आलोक@alok_ajay

कैलाश विजयवर्गीय, आप बंगाल में जिस अराजकता से लड़ रहे हैं अगर आपका पुत्र भी सड़क पर वही अराजकता करेगा तो न केवल आपकी और अपनी संवैधानिक स्थिति कमजोर करेगा, बल्कि बंगाल मे आपके तीन साल के श्रम को व्यर्थ करेगा। आशा है कि आप बेटे को न केवल समझाएंगे, बल्कि खुद भी समझेंगे। कुमार विश्वास@DrKumarVishwas

राज्यनामा
झारखंड

विकास की ओर अग्रसर राज्य में हादसे पर राजनीति

भीड़ द्वारा कानून हाथ में लेने की घटनाएं अक्सर सामने आती हैं। लेकिन ऐसी घटनाओं को सांप्रदायिक चश्मे से नहीं देखा जाना चाहिए। झारखंड के सरायकेला में भीड़ के हाथों हमले के कारण मारे गए एक युवक के मामले में कुछ ऐसा ही हो रहा है। प्रशासनिक स्तर पर तत्परता बरतते हुए जहां पुलिस के कई वरीय पदाधिकारी इस प्रकरण में निलंबित किए जा चुके हैं वहीं हमलावरों को भी चिन्हित कर गिरफ्तार किया जा चुका है। ऐसे में सवाल उठता है कि पूरे राज्य को मॉब लिंचिंग के लिए दोषी ठहरा देना कहां तक जायज है? मामले की गूंज संसद में भी सुनाई पड़ी तो प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी ने भी पूरे वाकये पर अफसोस जाहिर किया, लेकिन इस पर आपत्ति जताई कि इसके लिए समूचे राज्य को बदनाम करना ठीक नहीं है। वैसे प्रधानमंत्री की चिंता को व्यापक तौर पर देखा जाना चाहिए। झारखंड तेजी से विकास की ओर डग बढ़ाता प्रदेश है। कुछ घटनाओं की आड़ में राज्य को बदनाम करने की कोशिशों से बाज आना चाहिए। नीति आयोग ने झारखंड को स्वास्थ्य सुधारों में शीर्ष राज्यों में शुमार किया है। स्वच्छता अभियान में राज्य का प्रदर्शन शानदार है। व्यापार की राह आसान करने वाले राज्यों में झारखंड गुजरात सरीखे विकसित प्रदेश की बराबरी कर रहा है। ऐसे कई क्षेत्र हैं, जहां राज्य तेजी से विकसित प्रदेशों को टक्कर दे रहा है। झारखंड के पास बेहतर मानव संसाधन है जो अन्य प्रदेशों के विकास में भी काम आता है। सिर्फ राजनीतिक चश्मे से हर घटना को देखने की कोशिश से राज्य की बदनामी होती है और छवि पर विपरीत असर पड़ता है। गरीबी, कुपोषण, अशिक्षा, मानव तस्करी, पलायन सरीखे कई समस्याओं की जद से अगर झारखंड बाहर निकलने की जद्दोजहद कर रहा है तो उसका बाहें फैलाकर स्वागत किया जाना चाहिए।

पसीना बहाते कांग्रेसी : झारखंड में अलग-अलग धड़े में बंटे कांग्रेसी आजकल सड़कों पर प्रदर्शन करते देखे जा सकते हैं। संगठन की विभिन्न इकाइयां धरना-प्रदर्शन का आयोजन कर रही हैं। लंबे अरसे तक सत्ता में रहने के कारण कांग्रेसी आंदोलनात्मक कार्यक्रम से कोसों दूर थे। लोकसभा चुनाव के प्रतिकूल परिणाम से कांग्रेसियों को इसका आभास होने लगा है कि अगर उन्हें आम लोगों का विश्वास हासिल करना है तो जन-समस्याओं को लेकर आवाज बुलंद करनी होगी। यही वजह है कि कांग्रेसियों में रोजाना आंदोलन पर उतरने की होड़ मच गई है। हालांकि अभी भी कार्यक्रमों में ज्यादा औपचारिकता हावी दिखाई पड़ती है, क्योंकि कांग्रेसी आम जन को इसमें सहभागी बनाने में सफल नहीं हो पा रहे हैं। वैसे पार्टी के रणनीतिकारों को उम्मीद है कि जागरूकता फैलाकर आमजन को आंदोलनात्मक कार्यक्रमों से जोड़ा जा सकता है। बिजली, सड़क, पानी आदि से जुड़ी समस्याओं पर मुखर होने का फायदा पार्टी को मिल सकता है। इस कवायद को विधानसभा चुनाव की तैयारी से जोड़कर देखा जा रहा है। राज्य में इस साल के अंत में विधानसभा के चुनाव होंगे। ज्यादा सक्रियता दिखाकर कांग्रेस के ज्यादातर नेता टिकटों के लिए दावेदारी पेश करेंगे। देखना यह होगा कि हाशिये पर चल रही कांग्रेस की किस्मत आंदोलन करने से बदलती है या नहीं?

लीपापोती में माहिर : सरकारी महकमे के कामकाज का ढंग निराला है। यहां न्याय की आस में वर्षों गुजर जाते हैं, लेकिन दोषी पकड़ में नहीं आता। फाइलों की फेहरिश्त इतनी लंबी हो जाती है कि एक के बाद एक मामले आलमारी में दफन हो जाते हैं। ऐसे मामलों में पदाधिकारियों की निष्क्रियता और बढ़ जाती है जिसमें उनके सहकर्मी ही आरोपित होते हैं। ऐसी परिस्थिति में कमेटी पर कमेटी गठित होती है, लेकिन कोई निदान नहीं निकलता, दोषी को सजा होने की बात तो दूर रही। ऐसे मामलों से प्रमुख विभाग भरे पड़े हैं। आश्चर्यजनक यह है कि वित्तीय गबन तक के मामले भी कमेटी की जांच तक सीमित हो जाती है, जबकि ऐसे प्रकरण में आपराधिक मुकदमा दर्ज करने का प्रावधान है। बिजली महकमे में ऐसा ही एक ताजा वाकया उजागर हुआ है जब बिलिंग एजेंसी ने उपभोक्ताओं से पैसे वसूलने के बाद राशि जमा करने में धांधली की। लेकिन शिकायत सामने आने के बाद इसकी जांच की गई तो मामले को सही पाया गया। आरंभिक जांच में लगभग सात करोड़ रुपये की हेरफेर सामने आई है, लेकिन अधिकारियों ने इस मामले में कड़ा एक्शन लेने की बजाय लीपापोती शुरू कर दी है। निजी एजेंसी की मॉनिटरिंग करने वाले अफसर भी इस हेरफेर के जिम्मेदार हैं। लेकिन उन्हें जांच की प्रक्रिया से दूर रखा गया है। ऐसे कई प्रकरण हैं जब कमेटी गठित कर प्रक्रिया को इतना लंबा कर दिया गया कि उसका कोई निष्कर्ष ही नहीं निकला। ऐसे मामलों में गबन करने वाले साफ बच निकलते हैं और झटका राज्य सरकार के राजस्व को लगता है। आश्चर्यजनक यह है कि अधिकारी फटकार खाने के बाद भी सुधरने को तैयार नहीं दिखते। ऐसे प्रकरणों में उनकी निष्क्रियता पूरे सिस्टम को कटघरे में खड़ा करती है।

जागरण जनमत — कल का परिणाम

क्या हिंसक भीड़ के बढ़ते मामले पुलिस सुधारों की अदेखी का परिणाम है?

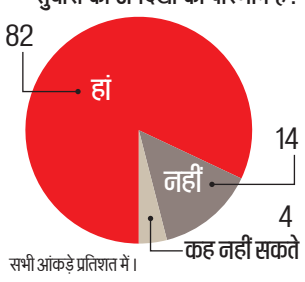

सभी आंकड़े प्रतिशत में।

आज का सवाल
क्या भारतीय क्रिकेट टीम की भगवा जर्सी पर कुछ पक्षों की आपत्ति उचित है?

अपनी राय और अधिक लोगों तक पहुंचाने के लिए अपने मोबाइल के मैसेज बॉक्स में जाकर **POLL** लिखें, स्पेस देकर **Y, N** या **C** लिखकर 57272 पर भेजें
Y -हां, **N**-नहीं, **C**-कह नहीं सकते

परिणाम जागरण इंटरनेट संस्करण के पाठकों का मत है।

जनपथ

ऐसे बल्लेबाज का एमपी में क्या काम,
शिखर धवन की ले जगह जाय करो कुछ नाम।
जाय करो कुछ नाम विश्वकप भारत जीते,
पाओगे बस जेल यहां अफसर को पीटे।
नाम धरे आकाश काम गुंडों के जैसे,
दल का नाम डुबोय रहे हैं नेता ऐसे!!
- ओमप्रकाश तिवारी

मुद्दा

विश्वविद्यालयों में धूमिल होता लाल रंग

प्रो. चंदन कुमार
हिंदी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय

देश के अधिकांश विश्वविद्यालयों में वामपंथी सोच और विचारधारा का वर्चस्व कायम रहा है। हालांकि वक्त के साथ यह सोच धीरे-धीरे खत्म हो रही है, और भारतीय संस्कृति से बेमेल वाली इस विचारधारा का लोप होता दिख रहा है

मौजूदा वक्त में भारत में उच्च शिक्षा अपने स्वरूप से लेकर अपनी विषयवस्तु तक बेहद परिवर्तनगामी दौर से गुजर रही है। पिछले कुछ समय से विशेषकर वर्ष 2014 में नरेंद्र मोदी सरकार के सत्ता में आने के बाद से विश्वविद्यालयों में पाठ्यक्रम से लेकर सोचने-विचारने के तरीकों पर वर्चस्ववादी वामपंथी सोच टूट रही है। वामपंथी विचारधारा की जिस छाया ने दशकों तक विश्वविद्यालयों के परिसरों पर अपना कब्जा जमाकर रखा, उसके वर्चस्व को भी चुनौती मिलनी शुरू हुई है। यह कोई साधारण बात नहीं है। विश्वविद्यालयों में बहुत लंबे समय से वामपंथी वैचारिकी ने अपनी जड़ें जमा रखी थीं। इतिहास लेखन से लेकर साहित्य लेखन और सामाजिक विज्ञान तथा मानविकी के विषयों तक इसका प्रभाव देखा जा सकता था। एक पूरी शृंखला बनी हुई थी जिसे तोड़ना आसान नहीं था। कई मायनों में इसका कुछ प्रभाव अब भी बना हुआ है, लेकिन अब विश्वविद्यालयों में एक वैचारिक तनाव स्पष्ट देखा जा सकता है। वामपंथी विचारधारा ने जिन विषयों और क्षेत्रों पर चिंतन-मनन तक को अवरुद्ध कर दिया था, उन पर बहस शुरू हो रही है। इस बहस का अकादमिक मूल्य तो है ही, सांस्कृतिक और सामाजिक मूल्य कहीं ज्यादा है। बहुत से मायनों में भारत की नई शिक्षा नीति का मसौदा प्रस्ताव इन परिवर्तनों की ही झलक देता है। शिक्षा के 'भारतीयकरण' की आवश्यकता दबी जुबान में पहले भी की जाती रही थी, लेकिन अब यह मांग खुलकर हो रही है।

यह समझना आवश्यक है कि आखिर क्यों शिक्षा या वैचारिक मूल्यों का एकांगी होना समाज के लिए घातक है। शिक्षा का कार्य ही खुलकर चिंतन-मनन और हर तरह के विचार के साथ संपर्क को प्रोत्साहित करना है। जो भी विचारधारा ऐसा करने से रोकती है, वह अपने निहित स्वार्थ और वैचारिकी को खाद-पानी देने का ही कार्य करती है। अंग्रेजों ने भारत पर शासन करने से पहले यहां की संस्कृति, समाज व भाषाओं का खूब अध्ययन किया। इसलिए नहीं कि वे इनको प्रोत्साहित कर सकें, बल्कि इसलिए कि अध्ययन और वैचारिकी के भारतीय किस्म के तरीकों को विस्थापित कर एक पश्चिमी सांस्कृतिक और सामाजिक जमीन तैयार कर लें। इस तरह का उपनिवेशवाद सैन्य उपनिवेशवाद खत्म होने के बाद भी जारी रहता है। भारत की शिक्षा प्रणाली और उनके मूल्यों के प्रति आजाद भारत में वामपंथी सरकारों का नजरिया भी कमोबेश ऐसा ही रहा। ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं जहां त्रिपुरा, केरल और पश्चिम बंगाल की राज्य सरकारों ने भारतीय राजनीतिक चिंतकों को किनारे कर कार्ल मार्क्स और लेनिन के विचारों को पाठ्यक्रम में शामिल किया। वर्ष 2011 में त्रिपुरा में तत्कालीन मार्क्सवादी सरकार ने कक्षा पांच के पाठ्यक्रम में महात्मा गांधी के बजाय लेनिन को शामिल किया। पश्चिम बंगाल में तो विश्वविद्यालयी और स्कूली पाठ्यक्रम में लगभग वामपंथी सरकारों की तानाशाही चलती रही। पश्चिम बंगाल में वामपंथी सरकारों ने लगातार भारतीय शिक्षा प्रणाली और उसके मूल्यों को अवरुद्ध किया।

राजधानी दिल्ली समेत देश के कई नामचीन विश्वविद्यालयों में वामपंथी वैचारिकी से प्रभावित शिक्षकों और अकादमिक सलाहकारों ने लगभग इसी तरह पाठ्यक्रमों को अपनी वैचारिकी के अनुकूल बनाने का प्रयास किया। इसका एक परिणाम यह भी हुआ कि अकादमिक परिसरों में लगातार ऐसी वैचारिकी ने अपने किस्म के अकादमिक संजाल को फैलाया। वामपंथी वैचारिकी से प्रभावित पाठ्यक्रमों में एक कुलीनता का भाव भी सहज रहता था। इससे अक्सर भारतीय धार्मिक पृष्ठभूमि से आने वाले विद्यार्थियों को अजीब सा परायापन महसूस होता था। वामपंथी वैचारिकी ने बड़ा नुकसान भारतीय इतिहास और प्रतीक पुरुषों को एक खास किस्म से श्रेणीबद्ध करके भी किया। भारतीय समाज के गहन जानकार और उपन्यासकार प्रेमचंद को 'साम्यवादी' बताना इसी नीति का हिस्सा है, जबकि प्रेमचंद के लिखे विपुल साहित्य को देखकर उन्हें किसी भी श्रेणी में सूत्रबद्ध नहीं किया जा सकता। हकीकत तो ये है कि वे अपने जीवन के ज्यादातर हिस्से में भारतीय और गांधीवादी विचार से ही प्रभावित रहे, लेकिन वामपंथी विचार से प्रभावित अकादमिक जगत उनकी और किसी पहचान पर बात करने को तैयार ही नहीं होता। इस संकीर्णता ने भारतीय मूल्यों और चिंतन प्रणाली को धूमिल किया है।

लेकिन हर दृष्टि में अपनी एकांगी सोच को थोपने के नतीजे व्यावहारिक स्तर पर भी बहुत खतरनाक रहे हैं। वामपंथी विचार से प्रभावित इतिहासकार व साहित्यकार बदलती दुनिया के साथ तालमेल बैठाने को तैयार नहीं दिखते। इसका नतीजा यह हुआ कि भारत में मानविकी, सामाजिक विज्ञान और साहित्य के विषयों की कभी कोई आर्थिकी ही तैयार नहीं हो पाई। परिणामस्वरूप इन विषयों से पढ़े बच्चे व्यावहारिक जीवन में रोजगार के लिए संघर्ष करते नजर आए हैं। इस स्थिति को बदलने की व्यावहारिकता वामपंथी सोच से ग्रसित होकर लिखे गए पाठ्यक्रमों और अकादमिक संस्कृति में नहीं रही। वह छात्रों के जीवन का बहुमूल्य समय ऐसी चीजों में खपा देते हैं जो कई बार निरर्थक और बेहद अव्यावहारिक होती हैं। वामपंथी छात्र राजनीति एक ऐसा ही दायरा बनता चला गया है जहां ऐसी अनावश्यक आक्रामकता और निरर्थक बहसों को बढ़ावा दिया जाता है। कई बार छात्र राजनीति व्यावहारिक जीवन के संघर्षों से बचने का आसान रास्ता नजर आती है। संभवतः इसी कारण नई शिक्षा नीति में विश्वविद्यालयी शिक्षा को रोजगारपरक बनाने पर अधिक ध्यान दिया गया है। ऐसा भी नहीं है कि वामपंथी वर्चस्व के दौर में विश्वविद्यालयों ने बहुत गुणवत्तापूर्ण शोधकार्य किए हों। लिहाजा इनमें वामपंथी वैचारिकी को तोड़ना आवश्यक है।